विषय	हिन्दी
प्रश्नपत्र सं. एवम् शीर्षक	P12 : दलित साहित्य
इकाई सं. एवम् शीर्षक	M 9 : दलित साहित्य का वैचारिक आधार (ज्योतिराव फुले)
इकाई टैग	HND_P12_M9
प्रधान निरीक्षक	प्रो. रामबक्ष जाट
प्रश्नपत्र-संयोजक	प्रो. टी. वी. कट्टीमणि
इकाई-लेखक	प्रो. रवि श्रीवास्तव
इकाई समीक्षक	डॉ. अब्दुल अलीम
भाषा सम्पादक	प्रो. देवशंकर नवीन

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. दलित साहित्य : विचार एवम् व्यवहार की निरन्तरता एवम् परिवर्तन
4. ज्योतिराव फुले का मानवतावाद-- स्त्रोतों की खोज
5. दलित शिक्षा- सम्भावनाओं की खोज
6. ज्योतिराव फुले की इतिहास दृष्टि में दलित
7. निष्कर्ष

A Gateway to All Post Graduate Courses

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप

- दलित साहित्य : विचार और व्यवहार की निरन्तरता एवम् परिवर्तन को जानेगें।
- ज्योतिराव फुले की विचारधारा से अवगत होंगे।
- ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित दलित शिक्षा के उत्थान में किये गये कार्यों को जान पाएंगे।
- ज्योतिराव फुले की इतिहास दृष्टि में दलित अवधारणा को सकेंगे।

2. प्रस्तावना

भारत के राष्ट्रीय जीवन में तीन अखिल भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन हुए- भक्ति आन्दोलन, प्रगतिशील आन्दोलन और दलित आन्दोलन। ये सभी आन्दोलन सामाजिक भेदभाव और जाति, धर्म, संप्रदाय, लिंग आधारित संकीर्णता एवम् रूढ़ि के विरुद्ध खड़े हुए थे। इन सभी आन्दोलनों का चरित्र लोकवादी रहा है। मनुष्यता के व्यापक धरातल पर मानववाद की प्रतिष्ठा उनका उद्देश्य रहा है। इस मानववाद का रूप ज्योतिराव फुले के चिन्तन एवम् राजनीतिक कर्म में दिखायी देता है। फुले परम्परागत रूढ़िवादी सोच के प्रति विद्रोह एवम् लोकतान्त्रिक विचारों के साहस को लेकर आए। उन्होंने घोषणा की, "शूद्रों को ब्रह्म राक्षसों की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के उन सभी धर्मग्रन्थों का विरोध करना होगा जिनमें हमारी गुलामी का समर्थन है।('गुलामगिरी')" उल्लेखनीय है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'हू वर द शूद्राज' फुले को समर्पित किया है। उन्होंने बुद्ध और कबीर के बाद अपना तीसरा गुरु ज्योतिराव फुले को माना है।

3. दलित साहित्य : विचार एवम् व्यवहार की निरन्तरता एवम् परिवर्तन

दलित साहित्य को वैचारिक आधार दलित आन्दोलन के व्यावहारिक अनुभवों से मिला है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवम् बीसवीं सदी में दक्षिण अफ्रीका से गांधी जी की वापसी तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर मुख्यतः उदारवादी रानाडे, गोखले, फिरोजशाह मेहता, पी. आनन्द चारलू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, तिलक, पं. शशिधर तर्क चूड़ामणि और कृष्ण प्रसन्न सेन जैसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे अभिजन बुद्धिजीवियों और नेताओं का दबदबा रहा। उसकी परिधि पर बने निम्न जातियों के छोटे-छोटे राजनीतिक वृत्त थे जिनसे जब-तब अभिजनवादी राष्ट्रवाद, मुक्ति-आन्दोलन चलाने वाले उदारपन्थी तथा अंग्रेजीदां कुलीन नेतृत्व को चुनौती मिलती थी। ऊपरी जातियों द्वारा चलाए जा रहे भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन से अलग ब्राह्मणवादी कुलीन चिन्तन एवम् धर्मशास्त्रों की परम्परा से बाहर पढ़ने वाली सोच को आधार बनाकर समानान्तर सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन को खड़ा करने का प्रयत्न भी जारी था। उसके विचार और सिद्धान्त जाति, श्रेणी, क्रम के तले से उभरने वाले बौद्धिकों के हाथ में था।

नारायण गुरु (1854) केरल के झझवा नामक दलित जाति में पैदा हुए थे और जाति-प्रथा के विरुद्ध तथा शूद्रों के मन्दिर-प्रवेश के पक्ष में जबर्दस्त आन्दोलन चला चुके थे। उन्होंने शूद्रों के लिए मन्दिर भी बनवाये जो ब्राह्मणवादी पद्धति के समानान्तर एक प्रतीकात्मक प्रतिरोध था। यद्यपि शूद्रों के मन्दिर-प्रवेश से उनकी वास्तविक समस्याएँ हल न होने वाली थी किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के एक खास दौर में मन्दिरों पर ब्राह्मणवादी वर्चस्व और वहाँ शूद्रों के प्रवेश-निषेध को ध्यान में रखते हुए यह चुनौतीपूर्ण काम था।

रामास्वामी नायकर पेरियार (1879-1973) तमिलनाडु (मद्रास) में पैदा हुए थे। वे जाति से चरवाहा थे और घोर निरीश्वरवादी थे। न तो धर्मशास्त्रों को ईश्वरवाणी मानते थे और न ही वैदिक सभ्यता और संस्कृति को आदर्श मानकर समस्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का आदिस्रोत मानने के पक्ष में थे। 'रामायण ए ट्रू रीडिंग' में उन्होंने राम को सवर्ण राजा मानकर रावण-दहन की प्रथा का विरोध किया था। उनका तर्क था कि अनार्य-दस्यु-राक्षस-शूद्र मानकर जिन्हें लान्छित किया जाता है, वही मूल भारतवन्शी हैं। बाहर से आए आर्यों ने उन्हें कुटिलतापूर्वक गुलाम बनाकर शूद्रों की श्रेणी में डाल दिया। राम इन्हीं आर्यों के देवता थे। इसलिए पेरियार ने राम के सार्वजनिक रूप से पुतले जलवाये। इस तरह उत्तर भारत में स्वामी अछूतानन्द (1879-1933), बंगाल में चाँद गुरु (1850-1930), मध्यप्रदेश में गुरु घासीदास (1756), जाति-प्रथा और ब्राह्मणवादी रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठा रहे थे। उसमें सबसे शक्तिशाली आवाज ज्योतिराव फुले की थी।

4. ज्योतिराव फुले का मानववाद -- स्रोतों की खोज

ज्योतिराव फुले की विचारधारा के तीन महत्वपूर्ण स्रोत हैं-- (1) भारत की वर्ण-जाति व्यवस्था, (2) फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और अमेरिकी अश्वेत आन्दोलन , और (3) महाराष्ट्र का दलित साहित्य।

फुले भारत में सामाजिक दासता के विरुद्ध सतर्क आवाज उठाने वाले पहले व्यक्ति थे। उनका जन्म 1827 में हुआ था। वे माली जाति के थे। उनका जन्मस्थल पुणे के निकट धानकवाड़ी था। उन्होंने अपनी पुस्तकों और लेखों में पेशवाओं के शासनकाल में अछूतों के कष्टों और शोषण का मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने उस नरक जैसी जिन्दगी से शूद्र-अतिशूद्र महार, मातंग, मांग, चमार, भंगी कही जाने वाली जातियों के उद्धार का बीड़ा उठाया। अपने मित्र तुकाराम तात्या पोड़वाल की पुस्तक 'जातिभेद विवेकसार' (1865) के द्वितीय संस्करण की भूमिका में फुले ने लिखा, "धर्म-ग्रंथों में वर्णित विकृत जाति-भेद ने हिन्दुओं के दिमाग को सदियों से गुलाम बना रखा है। उन्हें इस पाश से मुक्त करने के अलावा कोई दूसरा महत्वपूर्ण काम नहीं हो सकता।" इस पुस्तक में फुले ने लिखा है कि "ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर श्रेष्ठ होने का दावा किया। सामाजिक सर्वोच्चता और समाज-सञ्चालन का अधिकार ब्राह्मणों ने बहुजन समाज से बलपूर्वक छीनकर पाया है। पुराण, स्मृतियां एवम् वेद ब्राह्मणों की सेवा के एवज में अगले जन्म में सुख मिलने का भरोसा दिलाते हैं। वर्ण-व्यवस्था ने इस भ्रष्ट सोच को जन्म दिया है कि विप्र दम्भी-अज्ञानी होकर भी पूज्य है क्योंकि वह जन्मना श्रेष्ठ है और शूद्र जन्म से निःकृष्ट होने के कारण गुणवान होने के बावजूद सम्मान का अधिकारी नहीं हो सकता। जाति, वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मणवादी मानसिकता का परिणाम है जो गुलामों को पैदा करती है। उन्होंने तर्क दिया

कि दुनिया ईश्वर के, ईश्वर मन्त्रों के, मन्त्र ब्राह्मणों के नियन्त्रण में हैं और ब्राह्मणों ने देवत्व पा लिया है। पवित्र जल समुद्र में संचित है और समुद्र के समस्त पवित्र जल ब्राह्मणों के दाहिने पैर में समा गया है।''

फुले का लक्ष्य इसी मिथक को तोड़ना था। वर्णगत उच्चता और सारहीनता एवम् शूद्रों, अति-शूद्रों के मानव-अधिकारों के पक्ष में उन्होंने 'ब्राह्मणों की चालाकी'(1869), 'गुलामगिरी'(1872), 'सत्यशोधक समाज' के लिए 'मंगलगाथा' और 'पूजाविधि'(1887) पुस्तकें लिखी। फुले साहित्य-सर्जक भी थे। उन्होंने 'पोवाड़ा: शिक्षा-विभाग के ब्राह्मण अधिकारों'(1869) का काव्यग्रन्थ लिखा जिसमें वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता तथा सवर्ण शिक्षा का उपहास उड़ाया गया है। (पोवाड़ा का अर्थ है--वीरता की कथा)।

फुले की सर्वाधिक प्रसिद्ध एवम् लोकप्रिय पुस्तक 'गुलामगिरी' है। वह पहले भारतीय हैं जिन्होंने इस पुस्तक के द्वारा फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के तीन नारों-- समता, स्वतन्त्रता एवम् भाईचारा में निहित मानवतावादी आदर्शों को प्रभावशाली तरीके से भारतीय समाज को--विशेषकर निम्न जातियों को परिचित कराया। 'गुलामगिरी' सोलह अध्यायों में प्रश्नोत्तरी शैली में लिखी गई है। प्रथम नौ अध्याय भारतीय समाज पर ब्राह्मणवादी वर्चस्व से सम्बन्धित है। इस पुस्तक का प्रारम्भ शूद्रों को दी गई चेतावनी से होती है-- 'देखो मेरे शूद्र बंधुओं! ब्राह्मण तुम्हारा शोषण कर रहे हैं।' इस पुस्तक में उन्होंने शुरुआत होमर के प्रसिद्ध कथन से की है, 'अपनी शुचिता को मनुष्य उसी दिन खो देता है जिस दिन वह गुलाम बनता है (द डे ए मैन बिकम्स ए स्लेव, ही लूजेज ऑल हिज वर्च्यूज़)। फुले 1863 में अमेरिकी दासप्रथा को समाप्त करने वाले मानव-स्वाधीनता के परम प्रेमी अब्राहम लिंकन के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' के अमेरिकी दासप्रथा की समाप्ति के लिए अपने गोरे मालिकों के विरुद्ध संघर्षशील समानधर्मा काले गुलामों को समर्पित किया।

फुले अमेरिकी लेखक टॉमस पेन की पुस्तक 'राइट्स ऑफ मैन' (मनुष्य के अधिकार) से गहराई से प्रभावित हुए। अमेरिका के स्वाधीनता आन्दोलन से प्रेरणा लेकर उन्होंने समानता और स्वतन्त्रता के मूल्यों पर गहराई से चिन्तन आरम्भ किया। फुले ने 'ब्राह्मण अद्पदायत' (ब्राह्म धर्म के पर्दे के पीछे) नामक घोषणा-पत्र निकाला। उसमें उन्होंने फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के उसूलों को पुनः दोहराया। उसका उद्देश्य ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना पर चोट करना था। सदियों तक उसके प्रभाव के भीतर अतिशूद्रों-शूद्रों के जीवन में पनपी जड़ता, अज्ञानता, निरक्षरता, पूर्वाग्रह और जाति-आधारित अन्धविश्वासों की मानसिक गुलामी से उन्हें मुक्त करना फुले को आवश्यक प्रतीत हुआ।

फुले स्वयं एक कवि थे। दूसरा उन्हें महाराष्ट्र के दलित सन्त कवियों की एक समृद्ध काव्य-परम्परा विरासत में मिली थी। तुकाराम, नामदेव, एकनाथ, चोखामेला मराठी सन्त कवियों का गहरा असर फुले की मानसिक बनावट, सोच, कार्यनीति एवम् कवि-जीवन पर दिखाई देता है। चौदहवीं सदी में महाराष्ट्र में दलित भक्त कवि चोखमेला हुए थे। उन्हें महाराष्ट्र में वर्ण-व्यवस्था की सच्चाई को सामने रखने वाले प्रथम दलित कवि के रूप में मान्यता प्राप्त है। अपनी

जातिगत वेदना के साथ उन्होंने कहा, 'उस डोंगा परि रस नोहे डोंगा/चोखा डोंगा परिभाव नोहे डोंगा।' अर्थात गन्ना टेढ़ा हो सकता है, परन्तु उसका रस मीठा ही रहेगा। इसी तरह जाति कुछ भी हो, दलित, शूद्र या अस्पृश्य की भक्ति अछूत या अस्पृश्य नहीं हो सकती।

छूआछूत के सन्दर्भ में चोखामेला कहते हैं कि 'वेद, शास्त्र, जीव, शिव, काया, ब्रह्मा, विष्णु आदि ने जन्म से लेकर मृत्यु की अन्तिम क्रिया तक अछूतपन की भावना भरी है। हे ईश्वर मैं हीन हूं। मेरी जाति हीन है--तब मेरे हाथों तेरी सेवा किस प्रकार से हो सकती है--हीन याति माझी देवा/कैसी घडेल तुझी सेवा'। चोखामेला अपनी हैसियत को कभी भाग्यरेखा मानते हैं तो कभी कर्मों का फल--

"जीवन अगर यही देना था-
देने की क्या थी जरूरत भला?
जनम दिया कि बला टाली; निठुरता दिखा दी!
कहां चल दिये थे जनम की घड़ी?

('आधुनिकता के आइने में दलित'- दूबे, अभय कुमार (सम्पादित))

एक और भजन में चोखामेला अछूत होने की पीड़ा को पूर्वजन्म का फल बताते हैं--

उस एक नाम की निर्मल चोखामेला को है लगन लगी।
मैं तो महार, कहां मेरी कोई है जात?
पिछले जनम के करम होंगे जो
नील की तरह जनमा महार--
नील जिसने कृष्ण से
पिछले जनम में कभी
बेअदबी की थी?"

('आधुनिकता के आइने में दलित'- दूबे, अभय कुमार (सम्पादित))

चोखामेला से फुले की बीच का अन्तराल करीब साढ़े चार सौ - पांच सौ वर्षों का है। स्पष्टतः दोनों की चेतना का स्तर एक जैसा नहीं हो सकता। किन्तु फुले की विचार चेतना के निर्माण में महाराष्ट्रीय दलित कविता की भूमिका उनकी इस कविता से स्पष्ट है--

"सारी विचारधाराएँ अब सड़ गई हैं/ कोई भी अब विस्तार से नहीं देखता

क्या बेकार है क्या महान है/ समझा नहीं जा सकता।

बाजार फिलासफियों से भर गया है/ ईश्वर भी अब शोर शराबा हो गया है।

इच्छाओं के उत्तेजनावश लोग प्रार्थना में झुक जाते हैं।

सब तरफ, सब जगह सडान्ध फैल गई है

सत्य अथवा असत्य पर कुछ नहीं लिखा जा सकता

यही जैसे व्यक्ति हो गये हैं।

हर तरफ मतों का शोर-शराबा है/कोई किसी की नहीं सुनता

हर आदमी विचार के बारे में सोचता है/जो उसने पकड़ लिया वह महान है।

असत्य में ही गौरव है/विनाश से सर्वनाश तक/इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति कहते हैं

सत्य की खोज करो।"

(ज्योतिराव फुले, समग्र वांगमय, महाराष्ट्र सरकार, बंबई, 1991)

इस सडान्ध एवम् शोर-शराबे के बीच सत्य की खोज अम्बेडकर ने की। उन्होंने आत्मकथा 'मी कसा झालो' (मैं ऐसे बना) अवश्य लिखी जिससे प्रेरणा लेकर हिन्दी एवम् अन्य भाषाओं में दलित आत्मकथा लेखन शुरू हुआ। अम्बेडकर ने लिखा--

हिन्दुओं को चाहिए थे वेद, इसलिए उन्होंने व्यास को बुलाया, जो सवर्ण नहीं थे।

हिन्दुओं को चाहिए था एक महाकाव्य, इसलिए उन्होंने वाल्मीकि को बुलाया, जो खुद अछूत थे।

हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान और उन्होंने मुझे बुला भेजा।

(इलिएनर जिलिएट, ऐन एंथालॉजी ऑफ दलित लिट्रेचर, दिल्ली, ज्ञान, 1992)

फुले के विचारों के निर्माण में जिन तीन स्रोतों का उल्लेख किया गया है, परवर्ती दौर में वे दलित साहित्य का भी वैचारिक आधार बने। तब से आज तक दलित चिन्तन एवम् साहित्य में भावनात्मक सातत्य और वैचारिक निरन्तरता देश-कालगत परिवर्तनों के साथ दिखायी देती है।

5. दलित शिक्षा--सम्भावनाओं की खोज

ज्योतिराव फुले आधुनिक भारत में समतामूलक आन्दोलन के प्रणेता हैं। 'गुलामगिरी' 'सत्यार्थ प्रकाश' से दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। उसमें दलित-शिक्षा पर बड़ा बल है। जाति, वर्ण-व्यवस्था में निहित शूद्रों-अतिशूद्रों की शिक्षा पर निषेध एवम् पितृसत्तात्मक धर्मशास्त्रीय संस्कृति को मजबूत बनाने वाले उन वैवाहिक मन्त्रों को हटाने के पक्ष में उन्होंने दलीलें दी जिनसे स्त्रियों की गुलामी पर मुहर लगती थी। मांगलिक कार्यक्रम अब्राह्मणिक होने चाहिए। चूँकि धार्मिक कर्मकाण्ड दलितों की अधीनस्थ स्थिति की पुष्टि करते हैं और वर्ण-व्यवस्था को उन्हीं से मान्यता मिलती है;

इसलिए उन्होंने पुरोहिति संस्कृति के विरोध में व्यावहारिक तर्क दिए। उनका तर्क था, "मन्त्र-पाठ से ब्राह्मणों को धन मिलता था। विवाह, जन्म टीका, शुभ मुहुर्त की खोज, माँगलिक कार्यों पर एकाधिकार, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश सभी मौकों पर ब्रह्मभोज एवम् दक्षिणा का उद्देश्य सिर्फ धनार्जन है। ब्राह्मण-पुरोहित धार्मिक-सांस्कृतिक अवसरों पर ईश्वर का आशीर्वाद पाने के लिए पूजा-पाठ कराते हैं। ब्राह्मण बीमार पड़ने पर चिकित्सक के बजाय मरीज के सिरहाने पांडवप्रताप, हरिविजय और रामविजय का जाप करते हैं और पैसा कमाते हैं। वे मन्त्र पढ़ेंगे, होम करायेंगे, अभिषेक करायेंगे। मृत्यु के बाद श्राद्ध और धार्मिक कर्मकाण्ड करायेंगे। बदले में स्वयं और रिश्तेदारों के लिए भोजन-वस्त्रादि के साथ अन्य चढ़ावा मिलेगा। सूर्य-चँद्र-संस्कार ग्रहण हर जगह उनकी जरूरत पड़ती है", इसलिए 'धार्मिक मामलों में पुरोहितवाद की गुलामगिरी खत्म करने के लिए हमें पञ्चम वर्ण के रूप में अपन पुरोहित तैयार करना चाहिए।'

फुले ने 'मंगलाष्टक' (विवाह मन्त्र) लिखा। उसमें पुरुषप्रधान वैदिक मन्त्रों के विरुद्ध एक मन्त्र का अर्थ है, 'हम स्त्रियों को स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं है। स्त्रियों के अधिकार और स्वतन्त्रता का अनुभव करने का अवसर उन्हें देने की शपथ लो'।

अगस्त 1848 में ज्योतिराव फुले ने पत्नी सावित्रीबाई फुले के सहयोग से पुणे के बिदेवाड़ा में अछूत जातियों की शिक्षा के लिए स्त्री-शिक्षा का स्कूल खोला। यह वह समय था। जब रूढ़िवादी उसे ईश्वर एवम् धर्म की सत्ता के विरुद्ध अपराध मानते थे। उन्हें लगता था कि स्त्रियों, शूद्रों-अतिशूद्रों के बीच आधुनिक शिक्षा के प्रसार से ईश्वर निर्मित वर्ण-व्यवस्था के आदर्शों का लोप हो जायेगा। 'विद्या शूद्रों के घर में चली गई' के उत्तर में 'सच का सवेरा होते ही वेद डूब गए'--फुले का कथन था।

आज लोकतान्त्रिक प्रक्रियाएँ सापेक्षतः दृढ़ हुई हैं। जातिवाद के बन्धन अंशतः ढीले पड़े हैं। फिर भी भारतीय समाज की धमनियों में जाति-वर्णवाद का गाढ़ा खून व्यापत है। महारों के लिए पहली पाठशाला फुले ने खोली थी। वह शूद्रों की शिक्षा की पहली मुहिम थी। उसका पल्लवन महाराष्ट्र के दलित कवि की सिर्फ इस मार्मिक प्रार्थना में नहीं हुआ, 'प्रभुजी बना देना चिरई चुनमुन जनावर/बनाना नहीं फिर महार' (कवि, फागू बनसोड) बल्कि हरीश बारीसोड की कविता 'तुम्हीं बाम्बला आटा' में स्वयं ईश्वर की सत्ता को चुनौती देती प्रतीत होती है-

मन्दिर की सीढ़यों पर हमने/गुजारा है सारा जीवन/ भक्ति के गीत दहाड़ते हुए
गाते-रोते/हमने मीलों का किया है सफर तय/पंढारपुर तक...
तुम्हारे दरवाजे पर हमने/गुजारा है सारा जीवन,/पर हम मिले हैं कहां?
बाहर हम, भीतर तुम--/हम सीढ़ियों पर तुम मन्दिर में/ क्योंकि तुमने हमको समझा अछूत!
लेकिन अब बीत गए वे दिन,/हमने है शुरू किया जीवन नया,

अपने नये देवालय ढूंढकर/खोया विश्वास पा लिया--/ वहीं हैं हमारे देवता जहां हम हैं

सब हैं यहाँ बराबर.../विश्वास यह भेदेगा/दुनिया का हर कोना

अब तुम चिल्ला सकते हो, चिल्लाना।/हाय यह कैसा अधःपतन!/भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण धरम!

जलाओ चिता अपनी/और करोगे भी क्या?

('आधुनिकता के आइने में दलित' - दूबे, अभय कुमार(सम्पादित))"

ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित महाराष्ट्र में 'सत्यशोधक समाज' पहला दलितोद्धार का आन्दोलन साबित हुआ। इसके पीछे फुले का अपना अनुभव भी था। उनके पिता गोविन्द राव ने उन्हें सात साल की उम्र में स्कूल में दाखिला दिलाया था किन्तु एक ब्राह्मण क्लर्क की सलाह पर स्कूल से हटाकर अपने सब्जी उगाने के फर्म में लगा दिया। अछूत कन्या पाठशाला में अछूत कन्याओं को शिक्षित करने के कारण पिता द्वारा घर से निकाले गए। महाराष्ट्र के पुरुषप्रधान हिन्दू समाज का रूढ़िवाद इतना मजबूत था कि उन दिनों स्त्रियों के लिए जूते-चप्पल तक का इस्तेमाल करना वर्जित था। दूसरों की उपस्थिति में स्त्री अपने पति से और नवविवाहित दम्पति अपने पति से मिलकर बात नहीं कर सकती थी। स्त्री-शिक्षा पारिवारिक सीमा, मान-मर्यादाओं का उल्लंघन और पुरुषवादी अधिसत्ता को चुनौती मानी जाती थी। 'सत्यशोधक समाज' के तीन घोषित सिद्धान्त थे। उनका उद्देश्य ब्राह्मण पुरोहितों के बिना धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन के साथ शूद्रों-अतिशूद्रों को हस्तरेखा-भाग्यरेखा, भविष्योक्ति, तन्त्र-मन्त्र, प्रेतपूजा आदि अन्धविश्वासों की जकड़बंदी से निकालकर उनमें समता, भाईचारा एवम् वैज्ञानिक चिन्तन का विकास करना था। वे तीन सिद्धान्त हैं- (1) हर मानवप्राणी एक ही ईश्वर की सन्तान है। इसलिए वे परस्पर भाई-बहन हैं, (2) जैसे कि मां से मिलने और पिता को प्रसन्न करने के लिए किसी को मध्यस्थ की जरूरत नहीं होती है उसी तरह भगवद्भक्ति के लिए किसी पुरोहित या गुरु की भी आवश्यकता नहीं है। मुझे पूजा, प्रार्थना और अनुचिन्तन के लिए मध्यस्थ नहीं चाहिए और (3) मैं अपने बेटे-बेटी को शिक्षित बनाऊँगा। मैं भगवान को साक्षी मानकर इसे एक क्रान्ति में बदल दूँगा। ईश्वर मुझे इन सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन जीने की शक्ति दे।'

6. ज्योतिराव फुले की इतिहास दृष्टि में दलित

ज्योतिराव फुले का ब्राह्मणवाद विरोधी कार्यक्रम दलित मुक्ति के कई आयामों को खोलता था। इस सन्दर्भ में अभय कुमार दुबे ने लिखा है, "फुले के माध्यम से दलित आन्दोलन को दो तरह की विरासतें मिलीं। उन्होंने तटस्थता की थीसिस दी और कहा कि ब्रिटिश शासन धार्मिक रूप से निष्पक्ष है, इसलिए सामाजिक संघर्ष में उसके प्रभाव का इस्तेमाल निचली जातियों के हित में किया जा सकता है। इसके अलावा राजा बालि के बहुजन राज्य और आर्य-अनार्य के संघर्ष के मिथकों की रचना की, जिसम बहुजनों के लिए अस्मिता-रचना के संभावनापूर्ण तत्त्व थे।" *('आधुनिकता के आइने में दलित'* - दूबे, अभय कुमार(सम्पादित))"

उन्होंने 'गुलामगिरी' में भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी विचारधारा, उसे स्थापित करने वाले तत्वों और सदियों से जाति-प्रथा के बने रहने का रहस्य बताया है। उन्होंने यह मान्यता रखी कि वैदिक आर्य यहाँ के मूल निवासी नहीं हैं। इसलिए यहाँ के लोगों से मूल निवासियों से उनका कोई भावनात्मक सम्बन्ध भी नहीं है। शूद्रों के साथ उनका अमानवीय व्यवहार कमोबेश यही बताता है। इसके विपरीत शूद्र हर तरह के दमन और उत्पीड़न के बावजूद भारतीय समाज का स्नायुतन्त्र रहे हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आह्वान किया कि "इस देश का प्राण-तत्त्व शूद्र रहे हैं। संकट की घड़ी में सरकार को ब्राह्मणों से अधिक शूद्रों पर भरोसा करना चाहिए। अगर शूद्रों में सन्तोष और प्रसन्नता होगी तो कोई कारण नहीं कि सरकार उनकी विश्वसनीयता पर शंका कर सके।"

ज्योतिराव फुले ने 'गुलामगिरी' में परशुराम की कथा की ओर संकेत किया है। उन्हें दशावतारों में एक परशुराम की कथा में ब्राह्मण वर्चस्व की झलक दिखायी पड़ी। उस सन्दर्भ में उनकी कुछ स्थापनाएं इस प्रकार हैं—'आर्य कही जाने वाली जाति ईरान से समुद्र मार्ग से दो बार भारत आयी। उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों, विशेषकर खेतिहर किसानों को युद्ध में हराकर अपना शासन स्थापित किया। पुराणों में मत्स्य और कच्छप (कछुआ) अवतारों का आधार यही है। दोनों जलचर प्राणी हैं, लेकिन आर्यों को इसमें पूरी सफलता नहीं मिली। फिर उन्होंने भूमि मार्ग से आना शुरू किया। वराह, नरसिंह और वामनावतार में उसी की कथा है। कालान्तर में वामनावतार अर्थात् आर्य ब्राह्मणों ने भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलता पाई। उन्होंने यहाँ के बहादुर वीरों-क्षत्रियों को नृशंसतापूर्वक समाप्त किया, उनकी वंश-समाप्ति के लिए गर्भवती क्षत्राणियों की हत्या की।'

आर्यों के आगमन के पूर्व समाज में जातिभेद नहीं था। खेतिहर संस्कृति थी। सभी क्षत्रिय थे। इसलिए वे अस्त्र-शस्त्र रखते थे। वही यहाँ के मूल निवासी थे। परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन किया। धर्मशास्त्रों के अनुसार वह जाति से ब्राह्मण थे। उन्होंने पिता जमदग्नि के आदेश पर अपनी माँ की हत्या कर दी थी। उनका जीवनकाल चार लाख वर्ष से ऊपर बताया गया है।

इस तरह ब्राह्मण आर्यों ने यहाँ विजय पायी और पराजित जनों के मन हीनता और खुद के प्रति श्रेष्ठता के भाव को बैठाया। पुराण ब्राह्मणों के इसी दुष्टतापूर्ण चालाकी से भरे हुए कृत्यों के आख्यान हैं। जाति-व्यवस्था दरअसल विभिन्न गैर ब्राह्मणवादी समुदायों के बीच स्थायी शत्रुता पैदा करने के लिए ब्राह्मणों द्वारा रचा गया षड़यन्त्र है। चूँकि ब्राह्मण विजेताओं की तुलना में अल्पसंख्यक थे इसलिए उन्होंने बहुसंख्यक आबादी को विभाजित रखने के लिए कपटपूर्वक वर्णाश्रम धर्म का निर्माण किया और उसे शाश्वत तथा दैवीय विधान कहा। आर्यों का भारी विरोध करने वाले लोगों को उन्होंने अछूतों की श्रेणी में डाल दिया। उन्होंने उन्हें दास असुर, राक्षस, गुलाम, अनार्य, दस्यु नाम दिए।

अपनी स्थापना की न्यूनता के बावजूद धर्मशास्त्रों में वर्णित ब्रह्मा के शरीर से चारों वर्णों की उत्पत्ति की मिथकीय कल्पना पर फुले का आक्रमण पूरी तरह समय-प्रेरित और उचित था, क्योंकि आर्य वीरता के गुणगान पर तो चोट पड़ती ही थी, स्वयं ब्राह्मण श्रेष्ठता का मिथक भी टूटता था जिससे जाति प्रथा को बल मिलता था। इसी के

समानान्तर वह तिरस्कृत बहुजन समाज के मन और भग्न आत्मविश्वास को दूर कर उसमें नूतन आशा और नवीन संकल्प को जगाकर मनोबल और आत्मगौरव को ऊँचा उठाने वाला था।

वैदिक देवताओं सम्बन्धी फुले का चित्रण समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी मूल्यवान है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि धर्मशास्त्रों में अवैदिक तत्त्वों की भरमार है, जैसे कि आर्यों द्वारा माँस-मदिरा का सेवन आदि। किन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण है फुले का अन्तर्घुलनशीलता का सिद्धान्त। आर्यों का मूल धर्म कालान्तर में अवैदिक कहे जाने वाले धर्म से घुल मिल गया। इसलिए विशुद्ध वैदिक समाज या वैदिक धर्म जैसी चीज का पता लगाना मुश्किल है। आज यह बता पाना बहुत कठिन है कि इस अन्तःमिश्रण के बाद वैदिक और अवैदिक कहे जाने वाले धर्मों का मूल चरित्र क्या था?

उपरोक्त मामले में आर्य सभ्यता का मिथक फुले के तर्कों से टूटता है। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने दशहरा और दीपावाली की दो परिपाटियों का जिक्र किया है। उनकी दृष्टि में दोनों पर्व ब्राह्मणेतर जातियों के लिए लोकोपकारी असुर राजा बलि की वापसी और उनके राज्यारोहण का पर्व है जिन्हें आर्य देवता विष्णु ने धोखे से वामनावतार लेकर पाताल लोक में भेज दिया था जब कि वही ब्राह्मण आर्यों के लिए राजा बलि के सिंहासन से उतारे जाने का पर्व है।

ज्योतिराव फुले ने धर्मशास्त्रीय मिथकों एवम् प्रतीकों तथा चरित्रों का सर्जनात्मक उपयोग किया। आमजन के लोक्रप्रिय विश्वास से जुड़े होने के कारण इन सांस्कृतिक प्रतीकों, लोकवार्ताओं और मिथकीय कथाओं में किसी सामाजिक समूह को भावनात्मक रूप से आन्दोलित करने की अपूर्व क्षमता होती है। फुले पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उसे पहचाना और अछूतों-अस्पृश्यों के पक्ष में उसका उपयोग किया। फुले ने आर्यों की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के मिथक को ध्वस्त करने के लिए राजा बलि की कथा को चुना और यह दिखाने की कोशिश की कि धर्मशास्त्रों की कथाएँ शूद्रों को गुलाम बनाकर शोषकों की सेवा करना सिखाती हैं। फुले ने 'गुलामगीरी' में जोर देकर लिखा है कि 'मानवमात्र की समानता ही सार्वभौमिक सत्य है। मानवता की असली लड़ाई तो मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली सामाजिक एवम् राजनीतिक गुलामी से है।'

7. दलित इतिहास और साहित्य

ज्योतिराव फुले ने जिस इतिहास-दृष्टि को जन्म दिया उसकी अभिव्यक्ति विविध साहित्य-रूपों में हुई। उस साहित्य में इतिहास के अनुभवों के साथ वर्तमान की अनुभूति और भविष्य के प्रति जागरूकता की अभिव्यक्ति हुई है। वह दलित अस्मिता की पहचान किसी अन्य के द्वारा परोसी गई दृष्टि के माध्यम से नहीं बल्कि स्वयं के माध्यम से करना चाहता है। वह एक भिन्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से दलितों को आत्मविस्मृति से निकालकर आत्मगौरव एवम् आत्ममन्थन के रास्ते पर चला है। वह पूरे भारतीय साहित्य को हिन्दू साहित्य मानकर अस्वीकार करता है क्योंकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था में थोड़े से ब्राह्मण और क्षत्रियों का ही अधिकार रहा है। वेद-पुराण-स्मृतियाँ देवकथाओं के चमत्कारों, संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों में ब्राह्मण संस्कृति के रक्षक प्रतिनिधि महानायकों शिव, विष्णु, ब्रह्मा, राम-कृष्ण की ऐश्वर्य-कथाओं से अटे पड़े हैं। साहित्य की विषयवस्तु ही नहीं, उसके मूल्याङ्कन के मानदण्ड उन्हीं के विचार थे। पण्डे-

पुजारियों ने उनके जीवन-आख्यान का गुणगान किया है और काव्यशास्त्रियों ने उन्हीं आख्यानों की योजना को श्रेष्ठ बताया है।

दलित साहित्यकारों का तर्क है कि उन्हें पढ़कर लगता नहीं है कि उनके रचनाकाल का समाज किसी संकट से ग्रस्त रहा होगा। यहाँ दलितों, स्त्रियों एवम् जनसामान्य के जीवन का अभाव है। साहित्य में मुख्य चरित्र में उनका यहाँ पूरा अभाव है। एकलव्य, बर्बरीक जैसे निम्न जातियों से उभरे चरित्र ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पूजक वधिकों के हाथों मार डाले गए या निर्वासित हुए। एक बहुत बड़े समुदाय को जिसे ब्राह्मणवादी संस्कृति ने ज्ञान और साहित्य के संसार से बाहर बैठा दिया था और उन्हें उन्हीं साहित्यिक मूल्यों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था जो सारतः उनकी उपेक्षा और अनादर पर आधारित थे, आज का दलित साहित्य और उसका अलग सौंदर्यशास्त्र उसके प्रतिरोध पर टिका हुआ है।

यह क्रम टूटता है अंग्रेजों के यहाँ आने के बाद पश्चिम के मानवतावादी विचारों के सम्पर्क में आए दलित-समाज से उभरे नायकों के कर्म और चिन्तन के परिणामस्वरूप। दलित लेखक-चिन्तक बाबूराव बागुल का कहना है कि, "फुले-अम्बेडकरवादी आन्दोलन से उभरे नायक और कथानक हिन्दू पौराणिकता के प्रतिकूल हैं, परन्तु वे समाजवादी, प्रजातन्त्रवादी, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा इस युग के समानान्तर चलने वाली कथा-साहित्य की धारा से एकरूप हैं।...आज का युग बड़ा ही विलक्षण है। इस युग के उदय होने के साथ ही अनेक सन्त, मसीहा, परमेश्वर मृत हो गए हैं। इस युग ने अनेक प्रथाओं, धारणाओं, परम्पराओं, सत्ताओं को धूलि-ध्वस्त किया है।... नवनिर्माण हमने स्वीकारा है। इस स्वीकार से दलित साहित्य स्वतः ही युग-समान्तर बन गया है। वह हमारे क्रान्तिकारी युग की विशेषताओं का प्रतिबिम्ब बन गया है। वह विशेषता है मनुष्य की शोषण-उत्पीड़न, दुःख-दैन्य से मुक्ति। उसका स्वभावसिद्ध महात्म्य और विश्वबन्धुत्व!"

8. निष्कर्ष

दलित साहित्य पर फुले के विचारों के गहरे प्रभाव का पता उक्त उद्धरण से चलता है। दलित साहित्य का लक्ष्य दलित इतिहास एवम् संस्कृति के प्रति दलित-मानस में जागरूकता पैदा कर सामाजिक परिवर्तन को सिर्फ राजनीतिक आन्दोलन का ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक नवाचार का रस देकर दलितों को उसके लिए तैयार करना भी है। दलित-साहित्य के निषेध और नकार का एक सकारात्मक पक्ष प्रतीत होता है। यक्ष और रक्ष-संस्कृति-आर्य-अनार्य की संस्कृति-मूल और विजातीय संस्कृति के संघर्ष में जिसे खलनायक या राक्षस माना गया था उसके पौराणिक अर्थ सन्दर्भों को बदलकर दलित लेखकों ने अपने तईं ब्राह्मणवादी हिन्दू साहित्य और उसके नायकों के समानान्तर वाल्मीकि के 'रामायण' को आर्य-अनार्य संस्कृति के संघर्ष का काव्य मानकर उन्हें भी साहित्य में नायक का स्थान दिया जिसे भारतीय साहित्य में प्रतिनायक या खलनायक का दर्जा प्राप्त था।